देहरी के दीप



प्रदीप शर्मा



देहरी के दीप
(कविता संग्रह)



प्रकाशक :
हिन्दी साहित्य संसद
चूरू (राजस्थान)



प्रथमावृत्ति 500
पचास रुपये



मुद्रक :
सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, चूरू

DEHRI KE DEEP (POEMS)
by— Pradeep Sharma

अनुक्रम

दुश्चिन्ता के घेरे

खट्टे, मीठे, पके, अधपके,
बेरों के लालच में उलझ
फंसे झाड़ियों में ज्यों बचपन !
उसी तरह से उलझ गया है,
दुश्चिन्ता के घेरे में मन !

जीवन गृह की इस मुंडेर पर
सुख दुख पक्षी हैं आते ।
सुख के तनिक ठहरते, उड़ते,
दुख के लाखों में बस जाते ।
रोज बांटते थे उजियारे,
वे दिन अब कजूस हो गए।
सदा सुहागिन थे जो सपने
विधवा से मनहूस हो गए ।
कैसा बुरा बुरा लगता है,
लेकिन सच है यह परिवर्तन ।

पुष्प गंध तो नहीं कहीं भी,
'बगिया' में 'तन्दूर' सुलगते ।
जहां मानवी झोंकी जाती
और चिरांध के थक्के उठते ।।
सिर सेवा के सींग उगाकर
अपराधों मे लिप्त हो गए ।
सत्ता के मसान साधक सब,
पैशाची विक्षिप्त हो गए ।

अब तो अक्सर सुन पड़ता है,
चाटुकारिता का संकीर्तन।
वाचक गण तो झूठे किस्से,
सच की तरह कहा करते हैं।
वे चोरों की तरह, स्वयं के घर में,
छिपे हुए रहते हैं।
आंगन में तुलसी के विरवे,
दामन में शराब का भभका।
रोज मुखौटे बदल रहे हैं,
ऐसा ही क्रम इनका, उनका।
सभी सत्य अपवाद नहीं है,
फिर भी कहता मेरा चिन्तन।

* * *

गीत

रास्ते बन गए भटकनों के बरस,
सिर्फ साथी रहा, गीत का एक क्षण।

अजनबी चेहरों की भरी भीड़ में,
कौन अपना है जो अब पराया नहीं
सब तरफ चिलचिलाती कड़ी धूप है,
एक क्षण भर को राहत का साया नहीं

काट डाले विटप स्नेह-सद्भाव के,
कैसे अन्तर की पीड़ा करें संवरण।

प्रीत की जोगिया सांझ गायब हुई,
नफरतों की निशा-कालिमा फैलती
धड़ ही धड़ दीख पड़ते हैं अब चौतरफ,
कोई सिर हो कि जिसमें जुबां बोलती

कोई टूटे भले, कोई जाये बिखर,
जुड़ते जाते यहां स्वार्थ के समीकरण।

सबसे ज्यादा जिन्हें देते थे गालियां,
उनके हाथों वे जा, सबसे पहले बिके।
पेश करते रहे थे, शपथ पत्र जो,
उनके तथ्यों पे वे, कौन क्षण भर टिके।

उनकी चौसर बिछे, नित निवाले मिले,
उनको आये कभी, क्यों हमारा स्मरण।

* * *

देहरी का दीप

किसी देहरी पर दीपक से धरे,
जले हम तो जीवन भर,
अघड़, झंझावात बहुत थे
पर आंचल की ओट मिली कब !

अगर मगर के ताने बानों में
उलझाये गए, ठिठुरते ।
आश्वासन की सुई दिखाते
फटी कथरिया किन्तु सिली कब

कपट वेश धारी वंचक सब,
अपने बनकर घात लगाते
पर गुदड़ी में छिपे लाल सी
अपनी आस्था कहीं हिली कब !

बंशी-ध्वनि से रहे गूंजते,
दिग-दिगंत में वन प्रान्तर में
मोमबत्ती से पिघल गए हम,
प्रतिमा की भंगिमा खिली कब !

देह-गेह के रिश्ते नाते,
उनका कहां हिसाब चुकाते !
रहे नेह की ज्योति जगाए
गहन तिमिर की रात ढली कब !

अगरबत्ती से जले, सुवासित हुए
धुआंयें कई देर तक,
किन्तु साधना को समाधि की
कोई परिचित दिशा मिली कब !

घट में झांका, पट में झांका,
कभी कभी मरघट में झांका,
पर कब निज अन्तर में झांका,
नित आस्था की जोत जली कब !

झूठे सब व्यवहार हुए है
सपने कब साकार हुए हैं !
डोली छोड़ भगे है वाहक,
फिर भी सायत भले टली कब !

* * *

नाते--रिश्ते

इस विशाल बरगद के पत्ते
जैसे टूट गिरे पतझड़ में,
टूट रहा है उसी तरह से
नाते-रिश्तों का झूठा भ्रम !

जो खुद साथ चल रहे थे,
वे चौराहे पर दूर हो गए ।
जिनको हम महान् समझे थे
वे टुच्चे से स्वार्थ हो गए ।

चाटुकारिता के जयकारे,
गुंजा रहे हैं सारे सारे मौसम !

जब भी आतुर हुए
गले मिलने को
बाहें गईं पसारी ।
चीर गए बघनखे हृदय को,
बेंध गई ईर्ष्यालु कटारी !
स्वांग मित्रता के करते हैं,
भीतर में षड्यंत्रों का क्रम !

बन पवित्रता के उद्गाता
हमने कितने यजन रचाये !
आस्था की अस्थियां उन्हीं में,
आज बन गई हैं समिधायें !
नीति-नियम बिकने बाजारों,
निष्ठायें नीलाम हो गई !
टूट गए वे सपन सुहाने,
व्यर्थ हो गया बुनने का श्रम !

गीत

कैसे खुद उनको समझाते हैं !

दम साधे है–

बूढा बरगद

मंदिर की मढिया भी सूनी

बिखरी सूखी हुई–

टहनियां

अब तापस की

ठंडी धूनी !

इस सरिता के मौन किनारे

कब आपस में

बतियाते हैं !

अब तक हम

गाते आए थे,

सपन तुम्हारे, गीत हमारे

इसी समर्पण पर

धरती के, नित सागर ने,

चरण पखारे !

लेकिन अब दुनिया के बंदे

किसकी पीड़ा सहलाते हैं !

रोज उदासी के घेरे हैं

कुछ तेरे है, कुछ मेरे है

अपने हों तो चुप बैठे है–

गैर मिले, खिलते चेहरे है !

ये सारे चौखटे मढ़े से,

कैसे जग को बहकाते हैं !

कैसे खुद को समझाते हैं !

पृष्ठभूमि में महाभारत

बदली बदली हवा बह रही,
सचमुच आज समय है निष्ठुर !

षड्यत्रों का अभिनंदन है,
शतरंजी चालें, दुश्शासन।

सब शकुनि अपशकुन बन गए
अब कब संभव है, अनुशासन।

छल सिंहासन पर बैठा है,
वन जाने को विवश युधिष्ठिर।

मग्न हो गए, भीष्म द्रोण सब,
चुप्पी साधे विदुर दीखते।

देख रहे है सभी दुष्ट को,
पांचाली के केश खींचते।

कौन बढ़ाये हाथ कृष्ण बिन,
अबला की सहाय को उत्सुक

नारी की अस्मिता, समर्पण,
तंदूरों में झोंक रहे है।

विचलित आदर्शों के हाथी,
लोलुप कुत्ते भौंक रहे है।

अब 'अरबों' के सौदागर हैं,
कल थे जो गलियों के भिक्षुक।

बदली बदली हवा बह रही,
सचमुच आज समय है निष्ठुर!

* * *

अनचाहे पाहुन सा सच

बांधे बांध ढोंग का ऊंचा,
रिसते घावों से बहते हैं।
आपाधापी की नगरी में,
मिथ्या अभिमानी रहते हैं।
अनचाहे पाहुन सा सच भी,
जो बर्दाश्त नहीं कर पाते।
हम उनके पड़ोस में चुप्पी साधे,
विवश बने रहते हैं।
शीशे के घर में रहकर भी,
औरों पर पत्थर फेंकेंगे।
ऐसी जुरंत करने वाले,
यहां वहां बिखरे मिलते हैं।
जिनके सिर साबित हैं,
बेबस, बेजुबान ही होते सारे।
जो कुछ बोलें, उनके सर तो,
कलम किए अक्सर मिलते हैं।
बहा पसीना बनकर चाहे,
किट किट करो दांत तुम कितने,
दिन लोहे के चने हो गए।
ये कब काटे से कटते है !
फेंक रहे शब्दों का पांसा,
झेलें अर्थों की लाचारी।
ये शकुनि के मित्र,
पराये दुख से नित दुबले रहते हैं।
तुम संकल्पों के 'प्रदीप' हो,
कब अंधड़ से घबराये हो !
ये है फौलादी ईरादें,
पर्वत से टक्कर लेते हैं।

कैसा पद !

तुमने यह कैसा पद पाया,
चौखट की तस्वीर हो गए।
वन में 'रांझा' बैल चराये,
तुम महलों की 'हीर' हो गए।

आज प्रदूषण से धुंधलाए,
कितने ताजमहल अन्तर के।
अपना कोई ठौर नही हम,
भटके हुए फकीर हो गए।

पारस छू सोना बन जाये,
ये तो प्रचलित पुराकथा है।
हर स्थिति से लोहा लेने को,
हम तीखी शमशीर हो गए।

न्याय मांगते गए, दस्तकें दीं,
इस-उस दर पर बहुतेरी
करें उद्धरित जिसे न्यायविद,
ऐसी एक नजीर हो गए।

कब सम्मान पत्र के इच्छुक,
अपने तुलसी, सूर, कबीरा।
पर-पीड़ा की ओढ चदरिया,
विष पीकर के पीर हो गए।

भटकन की राहों पर डग मग,
मनुज चल रहा, गिरता पड़ता
सचमुच, तंग नजरिये,
उसकी आंखों के शहतीर हो गए।

प्रगति-पंथका, नित अन्वेषी,
क्यों पथ पर चुपचाप खड़ा है।

तरह-तरह के भ्रामक नारे,
पांवों की जंजीर हो गए।

तुम आगे चलने वाले थे,
अब क्यों पीछे मुड़कर देखा!

किस मजबूरी के मारे हो,
अब क्यों दामन गीर हो गए!

* * *



पहन गले जूते की माला

कितनी तकलीफों, आशंकाओं
अवसादों से भरी जिन्दगी !
आज भृकुटियां तनीं,
अशान्ति, आकुलता फैली
कितने झगड़े और उपद्रव,
दुर्घटनाओं का भी तांता
बलात्कार, अत्याचारों की
अखबारों में, कितनी गाथा !
इस जीवन में कहां हास्य है !

पीड़ाओं की चादर ओढे
हम गमगीन बने बैठे हैं
अक्सर तरस तरस जाते हैं-
इक निश्छल मुस्कान मिले तो !
मंहगाई की बड़ी मार है,
ये सब्जियां, 'भाव' इनके नित
आसमान की ओर चढ रहे !

फिर भी दफ्तर के "बाबूजी"
बेटे की अनवरत मांग पर
जूतों की दुकान में जाकर
बूटों की जोड़ी ले आये !
करते भी क्या ?
कब तक बेटा,
चप्पल की फटी चरी सहता !

वह कांटों की चुभन
और बर्दाश्त कर सके
ऐसा संभव नहीं रहा था ।

एक बड़े से डिब्बे में
बूटों की जोड़ी
चम-चम चम-चम चमक रही थी
औचक, धुंधियाई आंखों से
बेटे ने वह डिब्बा देखा

मुंह मांगी मिल गई मुरादें
अब तो तबीयत और खिल गई
उसका सूखा सा चेहरा
अब हरियाले वन सा मुस्काया
वह सचमुच में धन्य हो गया

बैठक खाने में बाबूजी चाय पी रहे
उसे देखते ही बोले,
मन मोहन ! आओ !
नये बूट तुम अभी पहनकर
मुझे दिखाओ

वह टूंटी के पास गया,
पांवों को धोया
गमछे से रगड़ा और पोंछा
डाला पांव तुरत जूते में
लेकिन जैसे बल्ब बुझ गया,
चारो ओर अंधेरा छाया,
जूते तो सचमुच छोटे थे !
और पूत के पांव बड़े थे !

कैसे जूता पहिन दिखाये,
और पूत शाबासी पाये।

पुत्र पिता का आज्ञाकारी,
बहुत प्यार करती महतारी,
पापा की गुण गाथा गाती।
आज्ञापालन को समझाती।

कैसी विकट परिस्थिति आई
समाधान नही पड़ा दिखाई।

सहसा कौंध गई बिजली सी,
उन बूटों पर नजर ज्यों गई
देखा मुड़कर बात सही थी
उन जूतों में फीते भी थे!

झट निकाल दोनो फीतों को,
तब सपूत ने एक कर लिया

एक बूट के पिरो छेद में,
फिर फीता गर्दन में बांधा
जूता गर्दन में लटकाये
मनमोहन बैठक में आया
पिता वहां अखबार पढ रहे
देखा टुकुर टुकुर हर्षाये,
दार्शनिक मुद्रा अपनाये
यों अमृतमय वचन सुनाये--
'सुनु श्रोतागण हम बड़भागी।
मम-सुत पितु आज्ञा अनुरागी।'

क्यों रुक गई समीर !

जाने क्यों रुक गई मार्ग में,
शीतल मन्द समीर।
अपने गांव नही पहुंची तो,
हम हो गए अधीर।

पहुंची नहीं पवन तो सब अनछुए रहे,
उकसाये, बेचैन, तने से खड़े रहे।
चढी धूप ने तब जारी वक्तव्य किया,
शायद शैलों ने उसका पथ रोक लिया।

यों बड़पन के बहकावे में,
क्यों आ गई समीर?
अपने गांव नहीं पहुंची तो,
हम हो गए अधीर।

अल्हड़ युवती सो वह, किसी सहेली से,
गलबहियां करने, बतलाने को ठहरी।
उभरी हो उसके चेहरे पर चिन्ताओं,
अगणित शंकाओं की छाया हो गहरी।
हम बराबरी वाले हैं, कैसे आती,
शायद ढोती है वह भी कुंठाओं की गठरी।

उसे छला हो चाहे ठकुर सुहाती ने,
या धनिकों की हाट बिक गई
नाजुक वदन समीर।
अपने गांव नहीं पहुंची तो,
हम हो गए अधीर।

बिना टिकट बस में चढ़ जाये,
उसे 'शऊर' नहीं।
मंहगाई में बचा सके कुछ,
अब दस्तूर नहीं।

कैसे गांव पहुंच पाये वह, हो पथ में दुबकी,
लेट किसी अमराई में, लेती होगी सुबकी।
अच्छा हुआ प्रदूषण बोझिल, आ पाई न अधीर,
इसीलिए रुक गई मार्ग में, शीतल मंद समीर।

जिसके झोंकों से लोगों के,
मन मयूर नर्तन करते।
फूलों की बगिया में मतवारे,
भंवरे गुंजन करते।

डाल डाल पत्ते पत्ते को, हलचल का दर्पण करते
वनदेवी कितनी ही कलियां,
नित बरबस चटकाती थी।
सबको आप्लावित करती थी,
महकी हुई समीर।
फूलों के पराग से बोझिल,
बहती मन्द समीर।

अपनापन दे सके नहीं, बेदर्द जमाना है,
करुणा, संवेदन का कहीं न ठौर ठिकाना है।
माल पराया हथियालें, और मुंह से राम जपें,
असली चेहरे पर कितने ही और लगाना है।

अब जनहित का स्वांग रच रहे, लोग हुए बेपीर।
इसीलिए रुक गई मार्ग में, शीतल मंद समीर।

मधुर गंधवह सी

रा आकाश है, बादलों से भरा,
ज वातावरण में, उमस छा गई।
: दिशा में घुटन, प्राण बेचैन हैं,
क तीखी चुभन, दंश ले आ गई।

तप्तमन का तनिक देर सिहरन मिले,
तुम मधुर गंधवह सी बहो तो सही।

ाज उपवन में है, म्लान हर पांखुरी,
प्त कलिका, भंवर भी बहकता नहीं।
न्द है अनकहे, मूक है बांसुरी,
ोण पर कोई सरगम थिरकता नहीं।

मौन टूटे अवांछित ये जड़ता हटे,
कंबु ग्रीवा उठा कुछ कहो तो सही।

कामनाओं का काजल, नयन में सजे,
ाहतों की चमक, दीप्त मुख पर खिली।
ओठ अभिसार की पत्रिका बांचते,
ाज लहरीली चादर सी तुम झिलमिली।

मन-महाजन का करजा उतर जायगा,
नेह के गेह कुछ दिन रहो तो सही।

दिन-गगन नापते, रवि पथिक की थकन,
जोगिया सांझ को सुरमई कर गई।
चन्द चमकीले तारों का देकर भरम,
रात तनहाइयां आंगने घर गई।

देह कुंदन बने, ताप में तप्त हो,
तुम विरह आंच में, कुछ दहो तो सही।

ढूंढ़ते ही रहे ..

घोर अंधेरी छाई है चारों दिशा,
सूर्य का अवतरण, ढूंढते ही रहे।
अब तो दिखता नहीं, हाथ को हाथ भी,
हम उजाले के कण ढूंढते ही रहे।

जिन्दगी को संवारा था जिनसे
बेशकीमत थे वे मोतियों की
खो गए जो मधुरता-से प्लावित
रास्ते में वे क्षण, ढूंढते ही

अब तो जीवन जटिलता का पर्याय है,
आपदाओं के साये बढ़े जा रहे।
हम भी दयनीयता के शुतुरमुर्ग से,
एक विवश अनुसरण ढूंढते ही रहे।

नंगे लोगों की बदनाम ये बस्तियां,
शर्म के मारे हम दोहरे हो गए।
कोई विता मा लाकर, कहीं से भी,
एक धवल आवरण, ढूंढते ही रहे।

साहूकारी का झण्डा उठाये हुए,
जेबकतरों की बस्ती में हम आ गए।
कोई आवाज देकर बुलाले कहीं,
वह निरापद शरण ढूंढते ही रहे।

हमने देखे शिकन से भरे चेहरे,
रंजो गम से पुते, चिन्ताकुल से सने।
जब खुली धूप सी मुस्कुराहट मिले,
हम वे दो चार क्षण ढूंढते ही रहे।

प्रब दिशा-हीन, ग्रास्था-रहित दौर है,
पथ प्रदर्शक बने, हर तरफ चोर हैं।
जिन पर करदें निछावर यह मन-प्राणत तन,
हम वे अविचल चरण, ढूंढते ही रहे।





गीत

सोचा था तुम निशि के किसी,
उनींदे पल में आ जाओगे।
तारे बदल गए, शबनम में,
तकते तकते भोर हो गई।

एक मिलन का वचन,
जिन्दगी की कैसी कंटियाली राहें।
जगह-जगह आलिंगन करतीं,
विपदाओं की लम्बी बाहें।

उन्हें भेंटते बढ़ता आया,
कदम कदम पर ठोकर खाता।
प्राणों का अनुवाद दर्द था,
लेकिन थी मौलिकता चाहें।

उस दिन जग की भरी डगर पर,
अनायास ही तुमसे मिलकर,
मन तो साहूकार रह गया,
लेकिन आँखें चोर हो गईं।

यौवन की आकुल आकांक्षा,
अन्तर से अधरों तक आई।
कितनी उत्कंठा की वेला,
और तुम्हारी यह निठुराई।

मेरे उर की विकल व्यथा के,
तारों को जन छेड़ दिया है।
पानी पीकर जात पूछने में,
बोलो ! कैसी चतुराई?

मैं जगती के अंधकार को,
शायद प्रभापूर्ण कर पाता।
किन्तु तुम्हारी अलका वलिसे,
यह तमसा घनघोर हो गई।

अगर जगत की सारी पीड़ा,
मुझ सी ही अनबोली होती।
मैदानी सरिता पर्वत के,
निर्झर की हमजोली होती।

अच्छा होता अगर जलधि में,
मुझको कहीं कगार न मिलता,
कौन विवशता के हाथों यों,
विकता और ठठोली होती।

मैं जग की आकुल प्यासों को,
शायद अमृत घट दे पाता।
लेकिन अपनी प्यास बुझाने को,
यह घटना और हो गई।

* * *



प्यास पनघट के किनारे

प्यास खड़ी पनघट के एक किनारे थी।

जीवन श्लोक अनुष्टुप छन्द एक छोटा,
विषाद भाष्य उसका अक्षर हो जाता है।
विस्मृत करते सौने कडुए घूटों को,
सुधि के माथे स्वयं पसीना आता है।

ललित लाज के पहरे में दो नमित नयन,
उपवन में छुई मधुसिक्त बहारें थी।
प्यास खड़ी ....

खोल प्यास के पंख अधर के विहग उड़े,
क्षयति ने वे कोमल पंख कतर डाले।
पड़ी रही विश्वासों की सेना अनुदिन,
संकोचन की सीमा पर घेरा डाले।

तुमने गातों का सारा रस सुखा दिया,
प्राणों में व्याकुलता का विष घोल दिया।
विमल-सुधा सरसा देते तो क्या होता,
हृदय रक्त से एक बूंद का मोल किया।

उस बीहड़ बन में भी पंथ बना लेता,
निविड़ तमिस्रा जिसमें पांव पसारे थी।
प्यास खड़ी ....

चले जायेंगे, अपनी अपनी मंजिल को,
यही डगर सूनी सूनी रह जायेगी।
कौन जिन्दगी का ठेका ले पाता है,
जब निलामी की बोली बढ़ जायेगी।

कफन मांगने कब, कोई द्वारे आता ?
जो आता है, शीश बांधकर आता है।
तोड़ेगा युग की, विपण्ण चट्टानों को,
शायद कोई स्वाभिमान टकराता है।

क्यों आशा की डोर समेटे जाते हो,
आकांक्षायें इसके टिकीं सहारे थी।
प्यास खड़ी...............

✱ ✱ ✱



गीत

किसी के नयन की सरल कोर सहसा,
न जाने हृदय को क्यों भा गई है ?

रहे प्राण मेरे विहंगम बने नित,
नहीं मोह-बंधन उन्हें बांध पाया।
सतत संचरण को उड़े नील नभ में,
किसी डाल पर कब बसेरा बनाया?

मैं विश्व पंथ का चिरंतन पथिक,
न जाने यह मंजिल क्यों आ गई है ?

सुमुखि ! विधु-वदन की विमल चांदनी से,
प्रकाशित अंधेरा हृदय हो गया है।
मृदुल भुज-लता की हरित आभ पाकर,
सुशोभित विटप-तन प्रफुल्लित हुआ है।

तुम्हे पा निकट भावना-कोकिला यह,
न जाने प्रणय-गीत क्यों गा गई है।

मैं पी चुका था, निराशा की मदिरा,
नयन में व्यथा की नवल लालिमा थी।
बदन टूटता, थी खुमारी स्मरण की,
चतुर्दिक निशा की गहन कालिमा थी।

नशा खत्म था, जो बिगड़ सा रहा था,
न जाने यह मस्ती क्यों छा गई है !

* * *

विदा गीत

अब चल पड़ूंगा, मैं अपनी डगर पर,
न कहना प्रवासी, कहां जा रहे हो ।

थकित सा, श्रमित सा, रुका था अचानक,
न जाने कहां से, मैं था आज आया ।
(कि) पथ के विटप सी, सुमुखि, तुम मिली हो,
मिली श्राप्त जन को, सुभग शान्त छाया ।

(कि) लम्बा बहुत जिन्दगी का सफर है,
अधिक रुक सकूं, ऐसी फुरसत कहां है ।
सदा जानता हूं कि जाना पड़ेगा,
इसी से नहीं शेष, हसरत यहां है ।

निगाहें टिकी जा, कहीं किस नगर पर,
न कहना विदा-गीत क्यों गा रहे हो ?

जुदाई मेरी जिन्दगी का है सरगम,
बिछुड़ आज हम फिर, नहीं मिल सकेंगे ।
हुए अंकुरित जो नयन पुष्करों में,
सुखद स्वप्न-शतदल नहीं खिल सकेंगे ।

अब तक मिले हैं कई वृक्ष ऐसे,
तले बैठ जिनके थकावट मिटाई ।
चला जब प्रखर धूप में कष्ट पाता,
तो उनकी डगर में बहुत याद आई ।

सजनि ! मिल गए हम संयोग-प्रेरित,
न कहना सुपरिचित नजर आ रहे हो ?

वृथा है इसी से यह परिचय का अभिनय,
पथिक आज का कल, कहीं जा रुकूंगा।
तुम्हारी बहुत कृपाकोर मुझको,
इसे मान संबल अधिक चल सकूंगा।

मिलन और निकटता निलय के सुमन
मुझे शूल पथ के अधिक जानते
सुहागिन चरण-रक्त से सांध्य-बा
सितारे सजल स्वेद-कण मांगते

उसांसो सी रजनी घनीभूत है, प्रिय,
न कहना, तिमिर में, बढ़े जा रहे हो ?

* * *



द्वार भिक्षुक

वह तुम्हारे द्वार का भिक्षुक नहीं है,
प्रीति का प्रतिदान जो अब मांगता है।

छोड़ जग का सकल जल, केवल पपीहा,
मेघ से दो बूंद शीतल चाहता है।
वर्ष भर रहता 'पिया' की रट लगाए,
धैर्य-घट से सृष्टि-सागर थाहता है।

वह किसी मनुहार का इच्छुक नहीं है,
हृदय के वातायनों से झांकता है।

शशि-प्रिया से दूर बेचारा चकोरा,
टकटकी बांधे, मधुर छवि देखता है।
है पचा जाता, ज्वलित अंगार को भी,
जलन कठों की नहीं अवरेखता है।

वह किसी अभिसार का उत्सुक नहीं है,
हृदय की गहराइयों को मापता है।

प्यार करता है कमल को, वन भ्रमर भी,
गुनगुनाता और बंधन में बंधाता यह सही है।
गंध है केवल मधुर या हृदय भी,
सोचता निशि भर बंधा, बस ! वह यही है।

वह तुम्हारा बंधनोत्सुक भर नहीं है,
प्राण ! बंधन की सुदृढ़ता जांचता है।

अब न भटको गंध-विधुरा वनमृगी सी,
त्याग सब संकोच, थोड़ा पास आओ।
है भुजा तैयार, इसका लो सहारा,
विश्व वीथि मे नहीं यों लड़खड़ाओ।

मीत बनने को खड़ा कहता यहाँ
स्नेह के संभार को पहिचानता

* *



शरदागम

ठंडी आहों का शरदागम होगा, लेकिन
यह आंसू की बरसात न जाने पायेगी।
स्मृतियों के घन अवसाद पूर्ण,
होकर जीवन–नभ में छाये।
अरमान-सितारे छुपे घुमड़,
पलकों में सावन जल आये।
कौंधी प्रिय-मुख छवि की चपला,
तमसा के केश लहर आये।
रस-वर्षा होगी, प्राण-पपीहा बोलेगा।
लेकिन उर-भूमि सूखी ही रह जायेगी।
ठंडी आहों का ··········· ···················
रोई रजनी की आंखों के आंसू
शबनम बन बरसेंगे,
तारों की बन्दन-वार बिखरती जायेगी।
तरु, पल्लव, कुसुमों पर दर्दीले,
गीले गीत लिखे होंगे,
भटकी आशा अपना पथ खोज न पायेगी।
रागारुण ऊषा का आगम होगा,
लेकिन, मेरे अभाग्य की रात न जाने पायेगी।
विस्मृति तो सहज नहीं होती,
सांसें, अतीत का भार सदा ही ढोती है।
टकरा कगार से लहर लौटती जाती है,
हतप्रभ पुलिनों की चट्टानें नित रोती हैं।।
है दंश तीव्र होता अक्सर घटनाक्रम का,
कुछ दिनों बाद सब पुरा कथायें होती हैं।
कोमल-कर कंटक बीन सके शायद,
लेकिन, मेरे अन्तर की चुभन न जाने पायेगी।

निष्ठा

–1–

तमसावृत जीवन–नभ सुनील,
मझधार किनारा बहुत दूर।

कितनी लहरों की उथल पुथल के,
झेल थपेड़े, पागल मन।
वह अडिग रहा, विश्वास लिए,
थक चूर हुआ यह दुर्बल तन।

विश्वास अमर पर देह
दोनों का अन्तर अमिट
तमसावृत जीवन–नभ सु
मंझदार किनारा बहुत

–2–

जग शोध चला, जग खोज चला,
मैंने अपनाई एक राह।

अनजाने ही चल पड़े जिधर,
ये कदम मानकर जिसे राह।
उसमें संशोधन, परिवर्तन,
करने की जब तब रही चाह।

खाई ठोकर, चल पड़े पुनः,
अधरों पर स्मित, दिल में कराह।
जग खोज चला, जग शोध चला,
मैंने अपनाई एक राह॥

-3-

अन्तर के भावों का प्रवाह,
कर तर्क-जाल की अवहेला !
बहता हो गया, सतत,
जीवन पथ पर यह नित खुल कर खेला !

मैं क्यों होता विक्षुब्ध,
जगत में हार हुई या जीत हुई।
क्यों सकुचाता क्यों भय खाता,
बनकर के लतिका छुई-मुई।

मानव को मानव का मान सदा,
विश्वास किया, बलिदान किया।
होऊं क्यों व्याकुल, पा धोखा,
किसने कब था प्रतिदान दिया।

कैसा विरोध, क्या आत्मीयता,
यह जग है दो दिन का मेला।
अन्तर के भावों का प्रवाह,
कर तर्क-जाल की अवहेला।



सतत प्रवाहित........

सतत प्रवाहित यौवन सरिता,
कितने कमल खिले, मुरझाये।

यह जीवन का बहता पानी,
उसको बंधन मुक्त रवानी।
आकर निकट चरम सीमा के,
रहीं अधूरी कई कहानी।
अगणित पुष्प खिले बगिया में,
जिन पर भंवर रोज मंडराये।

जीवन-संबल बिखरा पथ में,
जगती की अविरल हलचल में।
अब चल पड़ा नई मंजिल पर,
लोभ संवरण कर निजमन में।
बढ़ते रहे चरण नित मेरे,
मुड़कर वापिस कभी न आये।

थी वह रात मुखर पूनम की,
झंकृतध्वनि थी, हृत्तंत्री की।
हो अभिभूत एक क्षण गाई,
तरल रागिनी अन्तरतम की।
मेरी वीणा के भास्वर स्वर,
लौट न सके कभी जो गाये।

राज-हंसिनी की गति पद में,
नयन गुलाबी झूमें मद में।
चमक रही तारावलि नभ में,
चांद छिपा, झीने घूंघट में।

वह अभिसार पत्रिका-वाचन,
कंपित अधार, मधुर मुसकाये।

सन्ध्यारुण की लज्जा लाली,
दौड़ कपोलों पर मतवाली।
बनी लाल सिन्दूरी-रेखा,
कुंचित अलकावलि में काली।

रूप राशि की मादक व्रीड़ा,
आज तिरोहित, चिह्न न पाये।





नया व्याकरण

शायद इस जीवन की शैली,
भावों की भाषा बन जाये।
इसीलिए एक नये व्याकरण की,
हमको तलाश है अब तक !

धुन्ध, कुहासे और बादलों भरे,
अनिश्चितिं के इस नभ मे।
कोई नई किरण फूटेगी,
ऐसा कुछ विश्वास है अब तक !

कुंठा और संत्रास घनेरे,
जीवन में कर रहे बसेरे
निविड़ अंधेरों के पहरो में
नई भोर-आभास है अब तक !

जब भी झांकाराज दुआरे,
आश्वासन की भीड़ मिली थी।
लेकिन उनके थोथे पन को,
कांधे ढ़ोते बीता अब तक !

सदी-दर-सदी जिनको ढोते,
बार बार नत-मस्तक होते।
व्यर्थ संहितायें वे सारी,
जिनसे संथा लेते अब तक !

झूठे-सच्चे आश्वासन के,
ढेर बन गए शब्द हमारे।
जो भावों के संवाहक थे,
खो बैठे सब अर्थ बिचारे !

ो संदर्भ-रहित वे छिपते,
रहते कोष-बंध में कब तक !
इसीलिए एक नये व्याकरण को,
हमको तलाश है अब तक !



मुक्तक

हम अकेले थे, पथ में बयाबान था,
काफिले सब गए राह में छूटते ।
जिन पर राहबरी का धरे थे भरम,
रास्ते में वे आकर हमें लूटते ।
आज हमसाया भी हो गए अजनबी,
नाते-रिश्ते गए इस कदर टूटते ।
किससे बीती कहें, कौन हमदर्द है,
बैठे तनहा रहे, अश्क खुद घूंटते ।

मीत

यों अंधेरों में न भटको मीत मे
इस निराशा की
निविड़ तम के घ
विपुल अरमानों म
नभ-चांदनी पर मे
आस्था
चीर
यों
राष्ट्र के निर्माण क
तुम सजग कर्त्तव्य
अन्ध विश्वासी ज
काटने को, दृढ़ प्र
विघटनों, अलगाव
सतत उमिल, प्रभ
जुल्म, अत्याचार,
भ्रष्ट विकृति के स
तुम उड़ो विश्वास के निस्सीम
छोड़ जड़ता के बसेरे।
कब किसी की है ब
मनुष्य के उत्कर्षहि
हम समन्वय-संस्कृ
हम सभी के, सब ह
क्षुद्रता, स
हैं प्र
र

मीत मेरे

यों अंधेरों में न भटको मीत मेरे !

इस निराशा की निशा में,
निविड़ तम के घने साये।
विपुल अरमानों भरी,
नभ-चांदनी पर मेघ छाये।

आस्था के सूर्य को तुम निमंत्रण,
चीर दे अवसाद के बादल घनेरे।
यों अंधेरों में.................

राष्ट्र के निर्माण की पावन दिशा में,
तुम सजग कर्त्तव्य हो, अधिकार हो तुम।
अन्ध विश्वासी जकड़ की शृंखलायें,
काटने को, दृढ़ प्रखर तलवार हो तुम।
विघटनों, अलगाव का कर्दम बहाने,
सतत उर्मिल, प्रबल पारावर हो तुम।
जुल्म, अत्याचार, छल, कटुता, विषमता,
भ्रष्ट विकृति के सबल प्रतिकार हो तुम।

तुम उड़ो विश्वास के निस्सीम नभ में,
छोड़ जड़ता के बसेरे।

कब किसी की है बपौती, राष्ट्र जनगण का हमारा।
मनुष्य के उत्कर्षहित, संघर्ष का व्रत है हमारा।
हम समन्वय-संस्कृति और स्नेह-समता के पुजारी।
हम सभी के, सब हमारे, भावना निश्छल हमारी।

क्षुद्रता, संकीर्णता के तोड़ घेरे।
हैं प्रतीक्षारत कहीं नूतन सवेरे।
यो अंधेरों में न भटको मीत मेरे।

प्राण प्रदीप

प्राण प्रदीप जला करता है।
युग के रुके हुए सांसों में
नव तूफान पला करता है।
घनीभूत अवसाद लिए जब,
अंधकार नभ में छा जाता।
वर्षा-पानी लेकर अंधड़,
विजय ध्वजा फहराने आता।

निविड़ तमिस्रा-अवगुंठन में,
तब भी दीप जला करता है।

"जीओ, जीने दो" के हक पर,
जब शोषक निजकर फैलाता।
लगे कुचलने जीवन सत्ता,
जन अपना अस्तित्व भुलाता।

निज हस्ती को हाथ संभाले,
तब यौवन मचला करता है।

एक कसक का शेष चिन्ह है,
बीती व्यथा उमड़ आती है।
पलक-तटों की कर अवहेला,
अश्रु लहर बढती जाती है।

तब भी मानव के मानस में,
नित संघर्ष चला करता है।

युग का हरकारा

किन पुण्यों और त्याग तपस्या,
संघर्षो, वलिदानों की पावन परम्परा
उनका ही परिणाम -
आज हम सब स्वतंत्र हैं।
पर अफसोस हमारे रहबर,
'रहजन' बन कर लूट रहे हैं।
तन का कपड़ा ही वैरी है।
अपने ही आतंक मचाते,
निर्दोषों का खून बहाते।
पीड़ित है कोमल उर मां का,
उत्पीड़न दुर्बल का होता।
कोई युवती जल जाती है,
और दूसरी क्रूर भेड़िये
के पंजे में तड़प रही है।
भूख, गरीबी, अनाचार का
चहुदिशि नंगा नाच हो रहा
बेकारी में उलझ जवानी
अधबूढ़ी, मुर्झाये चेहरे।
जुल्मों के घेरे में घिर कर,
टूट रहा है, लुटा जा रहा
जन सामान्य हुआ दुख-कातर
किन्तु हमारे सिंहासन की गृह दृष्टि में-
कंप्यूटर ही ज्योति-पुंज है।
अकस्मात इकीसवीं सदी की
शोभायात्रा आजायेगी।

और उबार लेगी जनगण को,
सभी समस्याओं के
गहरे अंधकूप से।
इन्हीं उम्मीदों के सपनों
को बुनकर अपना
जाल बिछाते।
चहरा-शून्य घड़ों से चमचे
बार बार 'जय जय' चिल्लाते।
जाने क्यों पौरुष रूठा है?
युग का हरकारा झूठा है!

* * *

मुक्तक

घने जंगलों में भी अक्सर, कई अनजाने लोग मिले हैं,
कभी मार्ग दर्शन करते हैं, पानी के संयोग मिले हैं।
लेकिन महानगर में आकर, रोबोटों से पड़ा साबिका,
अनगिनती की भीड़ मिली पर, सब यांत्रिक उपयोग मिले हैं,
नहीं दिखाई पड़ी मनुजता, कहीं नहीं अपनापन पाया।
सरे आम धोखा खाकर भी, हम बेबस से होंठ सिले हैं।

द्वन्द्व समास

प्रेयसि, प्रय तुमसे मिलने की,
प्रास नहीं, विश्वास नहीं है।

जग को प्रजर प्रमर करने को,
मैंने पिये जहर के प्याले।
यौवन की प्राकुल घड़ियों में,
हाला के पैमाने ढाले।

उस दिन जब प्रतृप्ति से भरकर,
तुमसे प्रमृत पीने प्राया।
तुमने तनिक उपेक्षा बरती,
मुझको तरसाया, तड़पाया।

जो मिट जाये एक घूंट से,
ऐसी मेरी प्यास नहीं है।

प्रादि पुरुष मैं, वन्य भूमि पर,
निज पद चिन्ह सजाते प्राता।
बीहड़, कंटक मय प्रवेश यह,
पथ में परिवर्तित हो जाता।
कंटक-शूल चुभन दे जाते,
सहसा रक्त धार बह जाती।
तेरी मादक प्रलकावलि में,
वह सिन्दूर-रेखा बन जाते।
तेरी-मेरी प्रणय कथा भी,
साधारण इतिहास नहीं है।

पहिला दर्शन ही मनभावन,

कितने स्नेह-सुमन बिखराये।

मुसकानों के, सुराम-पुंज के,

मौसम आज चतुर्दिक छाये।

भोलेपन की कुछ सीमा थी,

कुछ यौवन के रहे तकाजे।

नयनों में 'जुलूस' से चलते,

कानों में बजते थे बाजे।

देखा-सुना हुआ अफसाना

सारे द्वन्द्व समाप्त नहीं हैं।

* * *

मुक्तक

पत्थरों का है कलेजा, क्या सुनेंगे दास्ता!

जंग खोरों को नहीं, इन्सानियत से वास्ता।

उनकी नजरों में लहू से ज्यादा गाठा तेल है,

वे दिखाते हैं हमें, बर्बादियों का रास्ता।

आशा दीप

भावनाओं का मधुरतम स्नेह,
वर्तिका विश्वास की अविचल ।
विश्व को विजड़ित किए तम-तोम,
दीप का प्रण, साहसी-संबल ।

दीप की संस्कृति, तिमिर का नाश,
स्नेह युत सौहार्द का सुप्रकाश।
आंधियां, तूफान, झंझावत,
अन्त-क्षण तक दीप का इतिहास।

लघुतरी पर, क्षीणकर पतवार,
बढ़ चले साहस, प्रवाह विरुद्ध,
पहुंचना कर पार पारावार ।

तुम जलाओ एक आशा दीप,
हंस उठे, मदुतर नयन के सीप ।

गहन कुंठा, त्रास, भय, अवसाद,
प्राण की दुर्दम प्रभा सी प्यास ।
विश्व-मरु के बीच खोदे कूप,
मनुज-विक्रम का बने इतिहास ।

विकल से नभ तारकों के अश्रु,
मनुज के श्रम-बिन्दु का सत्कार।

* * *

जागरण, स्वप्न और संघर्ष

जागरण की पीर,
शिद्दत से भरी है।
भूख, तड़पन और टूटन,
नित-नये-संत्रास।
कुंठा से भरी है जिन्दगी
जा रहा बढ़ता दिनोदिन,
दर्द का अहसास !

किन्तु क्या सपने सुखद है ?
स्वप्न की सरिता भरी है,
मगरमच्छों से
जो (कि) घुसते ही पकड़ लेते
मनुज का पैर।
खींचकर ले जायेंगे,
वे अतल जल में
दर्द और आतंक से
चिल्ला उठा मानव !
सपन भी शिद्दत भरे हैं
अब कहाँ जायें !

जागरण में जो दिलाते हैं
दिलासा
और नित विश्वास !
हम तुम्हारा कर रहे कल्याण
भूख भागेगी,
बीमारी पास तक भी

फटक न पाये ।
मुक्त सब संत्रास से होंगे ।
और उस गारुडिकला और तंत्र में
अटका कहीं है
आज भी विश्वास !
जबकि आश्वासन कला
भुठला रही है,
आज तक इतिहास !

कुचल जाने से प्रथम ही,
चींटियां भी काट लेती
मनुज क्यों निरुपाय !
भड़क उठे ज्वालगिरि सा
क्यों नहीं विद्रोह !

मुक्ति हित
सर्वस्व न्योछावर करे,
और त्याग सारे मोह !
अब लड़ो सन्नद्ध होकर
आततायी से ।
मृत्यु है, दयनीयता, असमर्थ
जीवन सिर्फ है संघर्ष
निज स्वातंन्त्र
जीवन अस्मिता का
जो सदाजारी रहेगा ।

* * *

मिलि भीख जांहि पिपीलिका

क्यों पढ़ते जाते हो,
झूठी तालिकायें।
क्यों प्रस्तुत करते हो,
प्रगति का प्रतिवेदन,
तरक्की की सनदें।
देखो तो आज भी
भूखे हैं, नंगे हैं,
बिना इलाज, बिना रोजगार
इधर उधर भटकते हैं।
छत नहीं है, इन लोगों के सर पर !
और तुम ?
जन कल्याण का
रामनामी दुपट्टा ओढ़े,
ओ दन्तहीन बूढे बघेरे !
तुम अपनी मौसी
बिलैया की चाल
क्योंकर छोड़ सकते हो ?
तुम्हारी मौसी ने,
"नौसी चूहे खाय
बिलैया चली हज को"
वाली मसल से ही तो
मक्षहूरी पाई है।
तुम उसी के
नक्शे कदम पर
लगातार बढ़ रहे हो।

ये तरक्की, वहदूदी की सनदें
उस स्तोत्र चोपनिया जिल्द
की तरह हैं
जिसके भीतर
फाहशा तस्वीरों से भरी,
कोक शास्त्र की
किताब छिपी है।
चार हजार रुपये महीने का
सरकारी किराया कमाकर
सात रुपये सालाना का
हाउस टैक्स भरने वाले
तुम ! चोर नहीं
शाह हो !
सत्ता और धन की देहरी
पर तुम्हारे पूंछ हिलाने से
ही निशान पड़े हैं।
जूठन चाटने से तो
तुमने महारत हासिल की है।
तुमने अपने कारनामों से,
गली के श्वानों को भी,
शर्मिन्दा कर दिया है।
तुम धिक्कार के,
नये संस्करण हो।
बुर्दा फरोशों की तरह,
तुम अपनों को ही नहीं
परायों की अस्मत भी,
जहां तहां बेचने, नीलाम करने का

पुण्य कमाने में ही,

अपने कर्त्तव्य की

इति श्री समझते हो !
चाहे लोग भूख से बिलबिलाये
चाहे वे भ्रष्टाचार के अंधेरे में
कदम-कदम पर ठोकरें खायें।
आज तुम्हारा तख्त ताज पर
कब्जा है, दिखलाई देता
लेकिन वह दिन दूर नहीं है,
बहुत पास है।

जब 'बागी' उठकर आयेंगे
अपनी जंजीरों की चोटों से
तुमको घायल कर देंगे
तब सिंहासन हिल जायेगा।
सिर्फ हिलेगा नहीं
कि उसके कई परखचे
उड़ जायेंगे।
मैंने नहीं, वृन्द ने कहा है
(वृन्द नीति का हिन्दी कवि है)
"बहुतन को न विरोधिये
निबल जानि बलवान।
मिलि भखि जायं पिपीलिका,
नागहि नग के मान।"

[आपात काल के दौरान
जेल में रचित मुक्तवृत्त]

कठपुतले

आत्महीनता के कठपुतले,
नाच रहे हैं, फुदक रहे हैं।
किसी "नियन्ता" की डोरी से बंधे
विराजित होते हैं कुर्सी पर,
शासन के मुखिया कहलाते
जब-तक निज दरबार लगाते,
सब कुछ मेरा, मैं सब कुछ हूं
ऐसा भ्रम चहुंदिश फैलाते !
नाटक कुछ ऐसा करते हैं
ले जायेंगे आसमान में
उनको

जो धरती पर पड़े निराश्रित
भूख-अभावों के मारे हैं
दुख-दरिद्रता से पीड़ित हैं,
किन्तु साथ हो पाल रहे हैं
आपस में ऐसा कुछ भ्रम सा
कठपुतले अपने प्रतिनिधि हैं
दुखती रग पर हाथ धरेंगे
सचमुच ही कल्याण करेंगे
किन्तु तथ्य है—

भांड भले बोहरे का स्वांग रचाये,
आखिर में कुछ स्वयं मांगता।
बेचारे इन आत्महीनता के कठपुतलों की
भी तो सीमा होती है।
अंकुशहीन नियन्ता की

डोरी से बंधे
मंच के, नाट्यपात्र हैं ये सारे।
उसकी मर्जी के बंदे हैं
उनके गले बड़े फन्दे हैं।
जब भी प्रबल नियंता चाहे
उन्हें अचानक बदल डालता!
इस कठपुतले को हटा,
मंच पर दूजे को लटका देता है!
एक नया नाटक चल पड़ता
स्वागत भाषण, पुष्पमाल का
अभिनंदन का, वाग्जाल का,
लोकतंत्र यों कठपुतलों का
खेल बना है।
ऊपर से नीचे तक सारा
इसी किस्म का साज सजा है।
ये कठपुतली खेल
देश में जगह जगह दोहराये जाते
किन्तु कहीं पर
कुछ नवीन सा लगे
इसलिए चलते नाटक मध्य
कभी तो उपसंहार दिखलाया जाता
उपोद्घात की बात निराली
उनकी रचना असन्तुष्ट करते रहते हैं।
दिल्ली-दर पर दस्तक देते
कुछ बयान-बाजी करते हैं
है जनता के परम हितैषी
मगरमच्छ के से आंसू

बरसाते, दौरे-दौड़ लगाते
भले पैंट की मोहरी
कीचड़ में सन जाये,
उजड़ों की गंदी बस्ती में।
ये सब नाटक 'पदलिप्सा' के
इसको ही 'जनसेवा' कहते।
खींचतान की बात सभी है
इसके साथी हाथ लगी है
नया खेल हम दिखलायेंगे
मालिक से बतलायेंगे
कुछ रोयेंगे चिल्लायेंगे
कुछ देखेंगे खेल तमाशा
कहाँ लोक है ?
सिर्फ तमाशा

* *

मुक्तक

पत्थरों का है कलेजा, क्या सुनेंगे दास्तां !
जंगखोरों को नहीं, इन्सानियत से वास्ता।
उनकी नजरों में लहू से ज्यादा गाढ़ा तेल है,
वे दिखाते हैं हमें, बर्बादियों का रास्ता।

गजल

कैसी कांटों भरी रहगुजर,
जिन्दगी है चुभन का सफर।

काफिले दूर, सूनी डगर,
अपना कोई नहीं हमसफर।

इस शहर में हैं जंगल उगे,
सब अजनबी, सभी बेखबर।

जी रहे हैं अंधेरों में हम,
रोशनी की नहीं कुछ खबर।

कारवां को क्यों मंजिल मिले,
रहजनी कर रहे राहबर।

किसके मुंह में जुबां बच रही,
लब पे ताले पड़े पुरअसर।

किसको अहसास-दर्दे-निहां,
सब दुआएं हुईं बेअसर।

गैर की क्या शिकायत करें,
अब तो अपनों ने फेरी नजर।

जामो-मीना का अब जिक्र क्यों,
अश्क पीते रहे उम्र भर।

* * *

गजल

खुशनुमा नारों के झोंके बह गए,
हम बहारों के भुलावे सह गए।
बांटते हर दर्दो-गम की जो दवा,
वे मसीहा अब कहां पर रह गए!
घोर अंधेरों में डूबी रहगुजर,
टिमटिमाते दीप पीछे रह गए।
गरजते सागर के हमले थे बहुत,
बन अडिग चट्टान सारे सह गए।
बेवफाई आपकी बस शुक्रिया,
हम वफादारों के चर्चे रह गए।
अपनी किस्मत में न कोई जाम था,
आंसुओं के घूंट पीकर रह गए।
कितनी लम्बी थी कहानी दर्द की,
मुख्तसर दो चार बातें कह गए।

* * *

चौपदे

जिसे छुआ हो नहीं किसी ने,
क्या ऐसा विश्वास कहीं है।
कुम्हलाया हो जो न ग्रीष्म से,
कब अपना मधुमास नहीं है।
कूट-कपट से परिपूरित हो,
मानव की अस्मिता मिटाता।
उसको किस्सा कहो भले,
वह संसृति का इतिहास नहीं है।

चुक गया विश्वास

चुक गया है आज
जन का आंतरिक विश्वास
गा रहे दरबार-वैतालिक
प्रवंचन, झूठ का इतिहास।
दृढ़ इरादों को मिली
विध्वंस की व्यापक चुनौती
कर रही है नियति
जनकी - अस्मिता का
क्रूर-कटु उपहास।
रहबरी का ध्वज उठाये
जुट गए हैं रहजनों में
वे कि जिनको सौंप बैठे
भाग्य कोषागार की
सब चाबियों का गुच्छ।
आज शव की अर्चना है
कब्र की पूजा
जबकि जीवित ठिठुरते हैं
भूख से व्याकुल करोड़ों जन
विगत दशकों ने दिया है
छल, प्रवंचन, झूठ का
उपहार –
कर रहे नीलाम निष्ठा को
भुनाकर चैक आस्था के।
पर धधकती है कहीं पर,

भावना की आग।
इन अंधेरी घनघटा में
जन गणी सूरज उजास।
चीर निकलेगा,
लिये किरणें हजारों।
आस्था की अस्मिता का
स्वाभिमानी मनुजता को
तब अंधेरे के पहुरुए
उल्लुओं की फौज
जाये भाग !

* *



राष्ट्र-वन्दन

नील गगन में सबसे ऊंची, राष्ट्र ध्वजा लहराये।
इसकी महिमा, जन की गरिमा, दिग्दिगंत छा जाये।

सजग सिपाही सभी देश के, इसको करें प्रणाम।
यह समृद्धि का इन्द्र-धनुष हो, शोभा अधिक ललाम।

यह स्वतंत्रता का प्रतीक है, सत्य शांति का प्रहरी।
जागृत जनगण की आस्थायें, यही निहित हैं गहरी।

हम स्वतंत्र हैं, साधिकार हैं, पर स्वच्छन्द नहीं हैं।
बंधे परस्पर स्नेह-सूत्र में, पर निर्द्वन्द्व नहीं हैं॥

किसी एक की नहीं बपौती, यह जनगण का देश।
विविध वेश, भाषा-भाषी हैं, किन्तु एक परिवेश॥

उज्ज्वल रहा अतीत हमारा, सामूहिक इतिहास।
वेद, उपनिषद, दर्शन, गीता सबका हुआ विकास।

हम उदार हैं परहित-चेतन 'सहित' भाव उन्नायक।
"वसुधाही कुटुम्ब है अपना" हम पृथ्वी-सुत लायक॥

करते रहे समाहित सबको, हम सहिष्णु सद्भावी।
अपनी पुण्य-धरा पर चिन्तन, अपना रहा प्रभावी।।

उन्नति के प्रशस्त पथ से क्यों, कदम डगमगा जायें।
अगणित बाधायें आयें पर, उन्हें पार कर जायें॥

* * *

गीत

तुम्हारे साथ अनजाने, कहां तक मैं चला आया।
बहुत मुश्किल दिखाई दे रहा है, लौटकर जाना॥

न जाने कौन कहता था कि जीवन क्षणिक होता है,
हमेशा मंजिले इसकी बड़ी दुश्वार होती हैं।

बहुत से काफिले छुटते, नये फिर साथ में आते,
यहां अपने पराये की कथा, बेकार होती है।

लुटाकर पुण्य की पूंजी, यह दौलत दर्द की पाई।
बहुत ही कष्ट कर है पाप करना और पछताना।

न जाने कौन तुम जो आज परिचित से नजर आते।
कि लगता है वथा, अपना युगों से नेह का नाता।
इसी से चल पड़ा हूं, साथ मंजिल छोड़कर अपनी,
नहीं मालूम कैसा पथ, पवन क्या गीत है गाता?

दिशा-निर्देश के संकेत सारे भूल बैठा हूं,
तुम्हारे हूं निकट, इतना मुझे केवल समझ आता।

नहीं सच यह जगत का भ्रम, नहीं सच मोह का बंधन।
मगर सच प्राण की यह प्यास, आकुल हृदय का स्पन्दन॥
प्रवाहित यह तनूजा तट, यह वंशीवट, यह वृन्दावन।
सभी ने भर दिया ज्यों आज उर-अन्तर का सूनापन।

कि शायद है यही मंजिल, यही है प्राण का पनघट।
कहीं कुछ तृप्ति सी, सन्तोष सा, जब तब झलक जाता।

* *

गजल

जोगिया सांझ ढलते अंधेरे हुए,
डाल-पर पंछियों के बसेरे हुए।

तेज चलते बटोही से बीते बरस,
ये न मेहमान तेरे, न मेरे हुए।

आंसुओं से धुली, रात थी चांदनी,
स्याहियों से सने क्यों सवेरे हुए ?

रूप की धूप की इस चकाचौंध में,
जाने बेसुध ये कितने चितेरे हुए।

कट गए तरु 'कदम', बांसुरी छिन गई,
जमुना तट पर भी दाखिल, लुटेरे हुए।

बज रही बीन है, झूमते नाग हैं,
बस्तियों में चतुर्दिक सपेरे हुए।

आये गोकुल से मथुरा, बढ़ी दूरियां,
सिन्धु-तट द्वारका में जा डेरे हुए।

पीर बिछुरन की बनकर वही राधिका,
रिश्ते कुब्जा से उनके घनेरे हुए।

बेतहाशा भगे अर्थ की दौड़ में,
शब्द के जाल चहुदिश बिखेरे हुए।

कट गई हरितिमा, ठूंठ ही रह गए,
अब तो उन पर भी गिद्धों के डेरे हुए।

गजल

लोग हैं बेताब, दरिया पार जाने के लिए,
अब किसे फुरसत बची है, नाव लाने के लिए।

शहर की बहबूदियों के तजकरे हैं आजकल,
कोई साजिश है हमारे पर जलाने के लिए।

आस्तीनों में छुपे थे, उन संपोलों पर बहार,
तुम रहो तैयार, अब खुद को डंसाने के लिए।

शाम की गलबाहियां, कसमें वफा की बार बार,
सुबह की बेगानगी, आंखें चुराने के लिए।

नफरतों और कत्लोगारत का किए बाजार गर्म,
क्या सजीले तौर हैं, हमको बचाने के लिए।

साथ हमप्याला को लेकर, चन्द चमचों का हुजूम,
सिरफिरा घर-घर फिरा, कुछ नाम पाने के लिए।

हमको मालूम हो गया है, अपने बेगानों का भेद,
क्या कहीं है आसरा अब सिर छुपाने के लिए।

तोहमतें, थुक्का फजीहत, सौदेबाजी और दगा,
बस ! सियासत हो चुकी, दुश्नाम पाने के लिए।

मेरी गमख्वारी करेंगे, उनकी ऐसी क्या मजाल,
चुल्लू भर शायद बचा हो, डूब जाने के लिए।

इन अजूबे से भरी दुनियां में, शायर क्यों गरीब,
कोरी लफ्फाजी नहीं, तुमको सुनाने के लिए।

* *

गजल

कैसे बरपा हुआ है, अजब ये तुफां,
कैसे बच पायेंगे, अपने जानो–इमां।

दिन दहाड़े सरेआम हत्या हुई,
किन्तु गायब हुए अंगुलियों के निशां।

सारे चौरास्तों पर खड़े अजनबी,
इनमें अपना नहीं है कोई मेहमां।

जब खिसक ही गई पांव-तल की जमीं,
कैसे बाकी रहा, सर पे ये आसमां ?

सब तरफ ढांचे, सीमेंट-कंकरीट के,
ढूंढे मिलता नहीं आदमी का मकां।

घुप अंधेरे में डूबा है, सारा शहर,
देखें शायद जली हो, कहीं पर शमां।

देखने सुनने वाले भले ना रहें,
किन्तु तुम क्यों हुए आजकल बेजुबां।

* * *

बेकसों पर दनदनाते रहे,
प्यार करते तो हम जानते।
पोंछते अश्क मजलूम के,
हम तुम्हें ही बड़ा मानते।
बदगुमानी तो मजहब नहीं,
तीर दुखियों पे क्यों तानते।
अस्मतें औरतों की बचे,
ऐसा प्रण क्यों नहीं ठानते ?
गीत गाते गए वक्त के,
आज का सच नहीं जानते।

गजल

लोग कहते हैं, पंकिल है पर्यावरण,
किन्तु वन सम्पदा कर रहे क्यों हरण ?

वृक्ष को काटकर हाथ क्या आयेगा,
तप्त मरु में मिलेगी कहां पर शरण।

सब तरफ अब नसीहत के अम्बार हैं,
कर रहा क्या, कहीं पर, कोई आचरण।

टूट कर गिर गए आइने की तरह,
उन क्षणों का करें, कब तलक अनुसरण।

खुद तो सोये हैं, मसनद पे मस्ती पिये,
चाहते हम करें, जाग कर हरि-भजन।

नंगे लोगों की बस्ती में हम आजकल,
ढूंढते फिर रहे हैं कोई आवरण।

तुम कसीदे लिखो, अग्नि के छंद हम,
हम फटे पांव, तुम हो सुकोमल चरण।

'शब्द' फेंके इधर, 'अर्थ' खुद ले उड़े,
व्यर्थ संदर्भ सारे,-रहित व्याकरण।

हमको कांटों भरा रास्ता दे दिया,
पुष्प शैया पे खुद कर रहे हैं शयन।

* *

वे जिसे माने बैठे हैं खुदा,
मुझसे उन पत्थरों का जिक्र न कर।

ग़ज़ल

बन्धु ! अब तो कहो, कौन सा संवरण ।
बनके दुल्हा के तुम, क्यों नये संस्करण ॥

अब बिछुड़ जायेंगे हम, किसी मोड़ पर ।
शेष रह जायेंगे, तिक्त-कटु-संस्मरण ॥

कंठ सूखे, तृषातुर दिखाई दिए ।
किन्तु देखे कभी तुमने, प्यासे नयन ?

चलते चलते क्यों, पथ में चरण रुक गए ।
शूल बन चुभ गए क्या किसी के वचन ?

वक़्त रोके किसी के भी रुकता नहीं ।
कितने बाँधे हैं झरने के बहते चरण ॥

जिन्दगी भर भले खुद कुंआरे रहे ।
"ब्याह ब्यूरो" का अब कर रहे संचलन ॥

* * *

मुल्को-मिल्लत के लिए कुरबां हुए, फांसी चढ़े ।
उनको भी इल्जामो-तोहमत, दे दिया करते हैं लोग ॥

गजल

तंत्र के तंतुओं में जकड़ता गया,
लोक की शान किसने संभाली यहां।
सुख के सपनों की होली धधकती इधर,
रोज शोषण की मनती दीवाली यहां।

हम खड़े द्वार पर देखते ही रहे,
तुमने महफिल में मिट्टी उछाली यहां।
कुछ भले की कहो, दुश्मनी बांधली,
इस तरह दोस्ती भी निभाली यहां।

दिल की दौलत लुटी और लुटती गई,
जो भी आये सभी थे, सवाली यहां।
हाथ आस्था का, हमने बढ़ाया मगर,
तुमने अपनी हथेली हटाली यहां।

जब भी देखा शिकन थी, तबस्सुम नहीं,
अपनी उल्फत भी हमने छिपाली यहां।
दर्द था, पीर थी, अश्क थे, आह थी,
हमने क्या क्या अलामत न पाली यहां ?

* *



ये

कभी आते है ये, कभी जाते हैं ये,
नित नये नाट्य हमको, दिखाते हैं ये।

भेंट लेते अंगूठे की एकलव्य से,
कुन्ती-सुत को धनुर्धर बनाते हैं ये।

हम अभावों की गर्मी में धूनी तपें,
बहती गंगा में मल मल नहाते हैं ये।

आज पीड़ित दुःशासन से जन-द्रोपदी,
वन गमन पांडवों का करते हैं ये।

ये है छोटा, बड़ा, मैं बनूं सरगना,
अपने 'स्वारथ का भारत' रचाते हैं ये।

कल भरी बज्म में कितने वादे किए,
बैठ गद्दी पे सब भूल जाते हैं ये।

अपनी पीड़ा की गाथा है संक्षेप में,
कितनी जिल्दों में पुस्तक छपाते हैं ये।





भ्रम

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ।

जब थी कलियां मृदु मुसकाती,
भंवरों की पंगतियां गाती
छाया था मधुमास चतुर्दिक
लतिकायें मनुहार लुटाती,

मधु पूरित-घट सा जीवन था,
स्वप्न सजीले और सुन्दर थे ।

तब मैं था सपनों में सोया,
जान सका ना जो कुछ खोया ।
जब वे टूटे सपन सुहाने,
फूट फूट कर मैं नित रोया ।

आंख खोल जब बाहर देखा,
सुखद स्वप्न सब छूमन्तर थे ।

फूट चला स्मृतियों का सोता,
जीवन -तृण ले चला बहाकर ।
संयम सारा टूटा, छूटा,
इस अजान सरिता में बहकर ।

हुआ अचानक नि:सहाय मैं,
भग्न हुए स्वर्णिम मंदिर थे ।
वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ।

आज सत्य को देख रहा हूं
जीवन के सब स्वप्न भूलकर
विस्मय की दो सरिताओं के
बीच खड़ा हूं आज कूल पर ।

सोच रहा हूं अपने मन में,
क्या सपने सचमुच सुन्दर थे ?

आज महाविष पीना

जीवन के उन मधुर क्षणों में, जो अमृत की वर्षा होती।
सपनों की सुन्दर सुकुमारी, अन्तः स्थल में बेसुध सोती॥
लेकिन आज अबोध हँसी भी, मूक हुई कुचली सी रोती।
क्यों अरमानों भरी जवानी, नितप्रति अपनी चिता संजोती॥

संघर्षण की इस वेला में,
तड़प तड़प कर जीना होगा।

उषाकाल की अरुण प्रभा में, प्यासी मनुहारें मतवाली।
साजन की वह व्यग्र प्रतीक्षा, दिग् दिगंत फैली हरियाली॥
पर आकुल अवनी अन्तस्थल, लिये अमित तापों की हलचल।
युग युग का ज्वालामुखि बोझिल, आज भड़क उठने को व्याकुल॥

वसुधा की अनन्त पीड़ा को,
बन्दी अधिक न रहना होगा।

हाय! गुलामी, टीस, कराहें, जंजीरें! साथी! हथकड़ियां।
आज शीश पर लटक रही हैं, महामृत्यु की नाशकलड़ियां।
बन्धन टूक टूक करने को, मदिरा के प्यालों को फोड़ो।
एक नया इतिहास रचाने, महाप्रलय से नाता जोड़ो॥

विष का प्याला अधरों पर रख,
विहंस विहंस कर पीना होगा।
आज महाविष पीना होगा।

* * *

गीत

दीप शिखा जलती एकाकी,

युगों युगों से चिरसंचित वह,
अपने उर में साध छिपाये।
एक वेदनामयी जलन की,
मधुर ज्योति निर्बाध छिपाये।

मानो यह चुनौति हो देती,
है कोई परवाना बाकी ?

'जलन' यही परिचय है मेरा,
'जलन' यही है राम कहानी।
सकल स्नेह खोकर के अपना,
जलना है उन्मत्त जवानी।

इस हाला में जलन भरी है,
जलना ही है जीवन साथी।

तुम जिसको अभिशाप बताते,
मुझको वे वरदान सजीले।
आत्मार्पण की इस वेला में,
हाला छोड़, हलाहल पीले।

मेरे जलन विदग्ध हृदय में,
अभी खिंची है प्रिय छवि बांकी।

दीप शिखा जलती एकाकी।

* * *

गीत

मुझे नहीं प्रतिदान चाहिए !

मैं भटका सा पथिक अकेला,
जीवन पथ पर बढ़ता आया।
विपदाओं के कठिन थपेड़े,
कदम कदम पर सहता आया।

पर मंजिल के अंतिम क्षण तक,
मुझे नहीं विश्राम चाहिए।

मैं चलता ही रहा प्रतिक्षण,
जब तक पद रेखा दिखलाती।
एक हूक उठती अन्तर में,
थर थर करती जीवन बाती।

रुका एक क्षण, पर संबल हित,
तेरी ही पहिचान चाहिए।

शायद यह अंतिम मंजिल है,
बैठ गया हूं तेरे दर पर।
जीवन की सन्ध्या वेला में,
तुझमें ही विलीन हो यह तन।

अपने आत्मार्पण के बदले,
मुझ न कुछ सम्मान चाहिए।



गीत

स्मृति के मेघ तमिस्र-गगन में,
शशि जब तब चमका करता है।

जगती के अणु अणु कण कण में,
अभी व्याप्त है घना अंधेरा।
तद्रिल अलसाई आंखों में,
छिपकर बैठा मूक चितेरा।

धुंधले से सुन्दर अतीत का,
एक चित्र अंकित करता है।

यौवन की मादक मनुहारें,
सपना बन आंखों में छाती।
एक मुखर पायल की रुनझुन,
नित मधुरस बरसाती आती।

पर अन्तः प्रदेश में फैना,
सागर अट्टहास करता है।

इस असीम निर्जन डगरी पर,
बैठ गया है, थक कर राही।
चन्द्रहीन रजनी के तम में,
उसने भूली राह न पाई।

चारों दिशि में फिरे भटकता,
फिर भी पथ खोजा करता है।
स्मृति के मेघ तमिस्र गगन में,
शशि जब तब चमका करता है।

* * *

गीत

यह हृदय का देव मन्दिर,
मूर्ति बिन लगता अधूरा।
आंख से ओझल हुआ,
प्रिय भवन का स्वर्णिम कंगूरा।

लुट गई मनुहार पर कुछ प्यार बाकी है।

इस लजीली वाटिका में,
था कभी मधुकर गुंजारे।
आम्र मंजरि पर लिखे हैं,
कोकिला ने गीत प्यारे।

स्वप्न है मधुमास, अब पतझार बाकी है।

प्राण प्रिय के मधुर पट की,
ओट में जोनित पला था।
यह सजीला दीप भी,
निष्कम्प हो अविरल जला था।

चुक गया है स्नेह पर कुछ ज्वाल बाकी है।

* * *

□ □ □

शेष है.....................

शेष है धुंधली निशानी !

वाटिका सूनी पड़ी है,
नीड़ उजड़ा कोकिला का।
कर रहा विश्राम पतझड़,
गान है मर्मर स्वरों का।

बिखर कर कलिका पड़ी है,
आ नहीं पाई जवानी।
शेष है, धुंधली निशानी !!

अब न सरिता में बची है,
प्रिय मिलन की मधुर आशा।
अब न स्पन्दन के सुरों पर,
गूंजती है मदिर भाषा।

बालुकामय तट पड़े हैं,
स्तब्ध है, उसकी रवानी।
शेष है...... धुंधली निशानी !

शून्य मंदिर को सजल,
आलोक से पूरित किए था।
स्नेह प्लावित हो सजग,
सा रात भर तक जो जिए था।

बुझ गया वहदीप, उसकी,
रह गई केवल कहानी।
शेष है धुंधली निशानी !

* * *

याद मत करना

याद मत करना इसे तुम, किन्तु कवि को भूल जाना।

चिरव्यथाओं से समन्वित, नित रहा इतिहास कवि का।
दर्द है उससे बड़ा पर, नित रहा विश्वास कवि का।।
निठुर विधि को दे चुनौती, गूंजता अब तक रहा है,
साधना की कब्र पर, गंभीर सा निश्वास कवि का।

बह रहा मंझधार में जो, अब उसे क्या कूल पाना?

व्याप्त है चहुंदिशि जगत् में, वर्जनाओं का बसेरा।
विषमता के शैल दुर्गम, दूर है नूतन सवेरा।।
रोकते हैं मार्ग अपना, शूल बन दुर्दान्त दस्यु,
कर सकूं साकार सपने, यह नहीं सौभाग्य मेरा।

विवशता शायद बड़ी, हो कठिन उससे पार पाना।

झलकती है सकल अनुकम्पा, तुम्हारे मृदु नयन में।
चमकती हो चंचला ज्यों मद भरे नव नीलघन में।
जगत ठुकराये भले ही, तुम निमंत्रण दे रहे हो,
सच! तुम्हारी भावनाओं का बड़ा सम्मान मन में।

पड़ रहा है, आज मुझको, रीति के प्रतिकूल जाना।
याद मत करना इसे तुम, किन्तु कवि को भूल जाना।

* * *

गजल

बिछुड़े है तुमसे और सख्तजान हुई है।
किन मुश्किलों में जिन्दगी आसान हुई है।।

कोई तो बात है कि उसको देख सामने,
साकी की नजरें इस कदर हैरान हुई हैं।।

जिसको दिया था हमने, इबादत का मर्तबा,
वह आशिकी क्यों, बेबिका सामान हुई है!

कासिद के मारफत थे, खत भेजे गए कई,
कब उनसे अपनी रूब-रू पहचान हुई है!

दावा मसीहाई किया, सूली चढादिया,
ये दुनिया क्या घड़ी भर, परेशान हुई है!

शिकवा जो करते, हमको वह मौका ही कब मिला!
बिन बोले अपनी जिन्दगी क़ुरबान हुई है।

ठुकराते रहे अवसर जिसे पांव से 'प्रदीप'
वह दौलत अब के वक्त का भगवान हुई है?

* * *

रीता घट

अधजल तो नहीं था यह,
वर्ना छलक जाता !
यह तो पूर्णघट था !
इसे नहीं कह सकते, तुम !
कच्चा घड़ा !
जो जल्दी से रिस जाता !
और जलहीन हो जाता !
परिस्थितियों की चोटें सहकर,
दुर्दिनों की मार सह कर,
इसने "चिकने घड़े" का
विरुद पाया था !
आप तो जानते हैं—
'चिकने घड़े' अनपेक्षित वर्षा का
भी असर नहीं लेते
और बचाये रखते हैं
अपनी आकबत !
उन पर पानी की बूंद नहीं ठहरती।

पुराना हो जाने पर उसे
"रुहा" घड़ा कहा गया !
इसके तनिक उष्ण पानी से,
पैदल चल कर आने वाले,
अपने पांव धो,
ताजगी पाते थे।

पथ की थकावट भूले जाते थे,
उनके पांव ।
कहते है कि
वक्त जो कर गुजरे,
वह "बैरी" भी न कर पाये।
इस वक्त की तीव्र गर्मी ने,
इस पूर्ण घट का
समस्त जल सोख लिया।
वर्षा की कमी वर्ष भर बनी रही
पीने के पानी की तलाश में
लोग-बाग अस्तव्यस्त, रहे ।
गांव-बस्ती में कभी कभार
टैंकर आया तो,
कभी कनस्तर, कभी बाल्टी,
कभी कलसा कलसी भर लाये
पीपे, जरीकैन, दूध ढोने के डिब्बे,
सभी तो जलपात्र बन गए !
तब किसे ध्यान आता,
कि घर-गुवाड़ी के चौक में
रक्खे रहे घड़े को भी
भरना है।
इसलिए वह पूर्ण घट भी
आज रीता घट हो
उपेक्षित सा पड़ा है।

कुत्ता, कुत्ते और मानव (!)

एक कुत्ता,
दुबलासा,
मेरी बैठक की सीढी पर
नित बैठा रहता है।
खाता हूं, जब कभी
बैठक में खाना मैं,
ताका करता है वह
छुपे-छुपे नेत्रों से
उन आंखों में
याचना तीव्र है।
मैं द दयार्द्र होकर
डाल देता हूं
कुछ बचे रोटी के टुकड़।
वह खाने लगता है।
देखकर दूसरे कुत्ते झपटते हैं
छीन ही लेते हैं
रोटी का टुकड़ा।
भिखारियों के झगड़ पड़ने की
परम्परा/सचमुच पुरानी है।
कुत्ता उसका अपवाद
क्यों कर बन पाते!
बुढिया दादी उन्हें
"बिना झोली का फकीर"
जो कहती थी।
देखकर कुत्ते-कुतिया के
संभोग-रत जोड़ को,

पास खड़े लोलुपों को,
लड़ते-झगड़ते।

वह भी गुर्राने लगता है।
प्रतिद्वन्द्विता करने को
वह भी उतारु है।
लोलुपता, कामुकता
कहे जायं स्वाभाविक !
संयत, गंभीर, धीर,
मानव के दुर्गुण है।
मैं भी कैसा अजीब
तर्क शील " बौद्ध " हूं।
कुत्ते और कुत्तों की
चर्चा में घसीट लाया
मानव को।
मानव की अपनी गरीमा है
अस्मिता है
उसके समक्ष सब
हेय नजर आते है।

किन्तु।
रोटी का एक टुकड़ा पाने के लिए
पूंछ हिलाता है,
दांत दिखाता है,
पांवों पर बिछ-बिछ जाता है—
कुत्ता।
खुद खुशामद बन जाता हैं—
कुत्ता।
सत्ता के गलियारों के आस-पास
ऐसी गतिविधियों में,
संलग्न कुछ प्राणी
मुझे नजर आते है।
लेकिन अफसोस है मुझे,
वे भी " मानव " कहलाते हैं।

उज्ज्वला

तम-तोम व्योम
घन घटाटोप।
मूसलाधार वर्षा अपार
फट पड़ा अचानक ज्यों बादल
भीगा वन-प्रान्तर
ग्राम-धाम
था लोक-श्रोक जल प्लावित सा !
इस गहन निशा में
अस्तव्यस्त, लथपथ जल में,
हो शीत त्रस्त
थर थर कम्पित
शायद प्राणों का बचे दीप
मिल जाय शरण
इस आशा में
आया सवार, उस कुटी द्वार !
जिसमें थे वयोवृद्ध चारण
पावन, मनभावन रत्न सदृश :
उज्ज्वल कुमारिका सुता-सहित !
खट्, खट् खट् खट् का भारी स्वर
सुन कर्मनिष्ठ गृहपति आये
तब खोल द्वार !
देखा, थर थर कम्पित सवार
प्राय: मूर्छित सा बेकल है
देकर सम्बल, पुत्री को तुरत
पुकार लिया
दोनों ने मिलकर

आगत को नीचे उतार
गृह भीतर, ज्वलित-अग्नि-सम्मुख
ले जा बैठाया !
गीले वस्त्रों को दूर किया
सूखे वस्त्रों में लिपटाया !
पर पीछे था दुर्भाग्य कहीं,
हो गई आंच मन्दी जल्दी
था नहीं शेष गृह में ईन्धन
सारा भीगा था घास-फूस !
वे कैसे आग जला पायें ?
वर्षा धीमी हो गई भले,
पर शीत-लहरियां नित वर्धित
सचमुच ! यह कठिन परिस्थिति
संकट की वेला !
आगत फिर भी थर-थर कम्पित
लेटा था, अर्द्ध-चेतना में !
तपनिधि चारण थे भावमूर्ति,
युग-काल, धर्म-प्रेरणा-पुरुष
मानव प्राणों की रक्षा को
माने थे अपना परम ध्येय
आगत के प्राण बचें कैसे ?
चिन्ताकुल, विवश हुए, बोले
उज्ज्वला ! सुनो !
संकट, आपद् का कठिन धर्म
अपने सम्मुख !
आगत के प्राण बचाने हैं !
मानव प्राणों की रक्षा हित
तुमको अपने तन की उष्मा

इस मर्द [illegible]
को देनी होगी!
सम्भव है [illegible]
इसके [illegible] को दूर करे
इसकी सब [illegible]
जागृत हो इसमें नव [illegible]
शायद मेरा [illegible]!
सर्वोपरि, [illegible]!
यह मानव है [illegible] किन्तु
शायद है कोई [illegible]!
'उज्ज्वला' [illegible]
गदराये यौवन की ऊष्मा
से प्रभा-पूर्ण!
बोली—पितु! [illegible]!
सब ही हैं अपने [illegible]!
पर मैं कर्तव्याधीन
आपकी आज्ञा
करती शिरोधार्य!
परिणामतः अन्तर्द्वन्द्व-[illegible]
हुई बन्द!

* * *

चेतना-दीप्त वपु की
ऊष्मा हो गई आग!
आगत का बर्फ हुआ शरीर
पा स्पर्श उष्ण
भूला कम्पन!
अल्हड़, मादक, आलिंगन से
प्राणों में छाया नवोन्मेष!

नर की निरीहता गई
हुआ पौरुष-प्रगल्भ !
वह बोला, उपकृत हूं
पाये है नये प्राण !
मुझ बेसुध को उष्मा,
आलिंगन दिए,
किया परमोपकार !
सर्वस्व तुम्ही हो मेरी अब
पर अब दो मुझको
प्रणय दान।
सानिध्य सौख्य की
यह परिणिति
कर देगी
मम तन-मन सार्थक !
विश्वास करो !
मैं, शपथ भवानी की, देता
तुमको रानी का पद-गौरव
मैंहूं ठाकुर का ज्येष्ठ पुत्र
'जेठवा मेव !
घन में विजूरी सी कौंध गई।
निज बांहें हटा, उज्ज्वला ने
यों कहा, कुंअरजी !
मैं दीना चारण कन्या हूं !
क्यों कर संभव, क्षत्रिय और
चारण का परिणय?
सामाजिक प्रथा नहीं ऐसी
चारण हैं पूज्य क्षत्रियों के !
मान्यता यही !

लेते जो शपथ भवानी की,
उसकी अवतार, देविरूपा
अनगिनत चारणी-बालायें !"
"सच कहती हो
सन्देह नहीं
तुम उपकारी, जीवनदात्री
सचमुच ! उदारता हो ज्वलन्त !
मैं प्रणयी, याचक, शलभ सदृश
तुम हो यौवन की दीपशिखा"
आन्तरिक कक्ष, एकान्त, रात ने
पिघलाया वर्जना-शैल !
निभृति, पितु का अस्पष्ट कथन
सब बने सहायक मिलन, हेतु !
दो युवा हृदय, निर्बन्ध,
कहीं अवरोध नहीं !
आकांक्षा हैं उत्ताल
उसे युग बोध नहीं
यौवन और प्रणय
प्रणय, यौवन
दो शब्दों में संक्षिप्त कथा
औचित्य-स्वरणि-अवहेला ही
जीवन की करुणामयी कथा !
दिल खुला किन्तु उसके पहले,
'जेठवा मेघ' चल पड़ा
त्याग चारण निवास।
उज्ज्वला, प्रेम विह्वला
गई फिर नगर-द्वार !
अणगिणत सन्देशे भेजे

पर न मिला उत्तर्
यौवन तट की वे सभी प्रतिज्ञायें
भूला, वर्जना-जड़ित था
मेघ जेठवे का मानस !
पाषाण मूर्ति बन गया
न शर्म, न रही हया !
आकुल नयनों से
व्याकुल पीड़ा बरसाती
वह नगर-द्वार में घूमी
जीवन-मृत बाला।
गूंजी जग जन में उसके
अन्तर की वाणी–
'टोली स्यूं टलियांह,
हिरणां मन वांठा हुवै।
वाल्हा विछड़ियांह,
जीणो किण विध जेठवा।"



✻ संशोधन ✻

क्र० सं०	पृष्ठ सं०	पंक्ति सं०	अशुद्ध	शुद्ध
1	2	2	उलझ	उलझे
2	3	11	धड़ हा धड़	धड़ ही धड़
3	4	3	अधड़	अंधड़
4	4	16	भगिमा	भगिमा
5	6	10	सारे	×
6	6	15	बेंध	बेध
7	7	1	खुद	×
8	21	12	ठठोली	ठिठोली
9	22	2	विवाद	विपद
10	22	6	छई	छाई
	22	9	सपति	संयति
	24	3	बते	बने
	24	5	नम	नभ
	25	6	श्राप्त	श्रांत
	26	3	बहुत कृपा कोर	बहुत है कृपा कोर
	33	2	अधार	अधर
	35	3	को	की
	36	6	तुम निमंत्रण	तुम दो निमंत्रण
	36	14	खतत	सतत
	36	20	उत्कपहित	उत्कर्षहित
	37	14	हस्ता	हस्ती
	39	7	चहरा	चेहरा
	39	9	रूढ़ा	रूठा



पूर्व बीकानेर राज्य के विश्रुत विद्वान एव समाजसेवी प कन्हैयालाल डण्ड के परिवार मे सन् 1928 ई मे जन्मे विश्वनाथ शर्मा "प्रदीप" के काव्य नाम से जाने जाते है। संस्कृत के शास्त्री एव "साहित्य रत्न (हिन्दी)"। अंग्रेजी साहित्य एव दर्शन का अध्ययन। डी. आर. लिट् की मानद उपाधि से विभूषित।

राजनीति मे समाजवादी आन्दोलनसे जुडे। सन् 1952, 1959 और 1963 मे नगरपालिका, चूरू के सदस्य चुने गये। प्रजा समाजवादी दल, राजस्थान के संयुक्त सचिव रहे। आपात काल मे 19 माह 'मीसा' के अन्तर्गत बन्दी रहे है।

प्रारम्भ से ही पत्रकारिता से जुडे रहे। साप्ताहिक पाक्षिक "समतामच" का 16 वर्षों तक प्रकाशन- सम्पादन। कुछ अर्से अंग्रेजी पाक्षिक "पीपुल्स फोरम" का प्रकाशन सम्पादन। अनेक पत्रिकाओ का सम्पादन, 'नवोदित काव्य प्रतिभाये' और "व्यक्ति और अभिव्यक्ति" काव्य संकलनो का सम्पादन, प्रकाशित रचनायें "साध" 'काव्यमकरन्द' 'देहरी के दीप' तीन गीत संग्रह एव दो उपन्यास अप्रकाशित है। आकाशवाणी बीकानेर एव चूरू से प्रसारण।

सन् 1848 ई मे हिन्दी साहित्य संसद् की स्थापना। हिन्दी साहित्य के प्रचार प्रसार मे सलग्न। अभिनव विद्याभारती संस्थान स्थापित किया।

सम्प्रति -
कन्हैया कुज,
अभिनव विद्या भारती, संस्थान
गोगारोड, चूरू (राज)